साधुत्वमें नग्नताका महत्व

पृष्ठभूमि :

एक लेख "दिगम्बर जैन साधुओंका नग्नत्व" शीर्षकसे जैन जगत (वर्धा, फरवरी १९५५का अंक) में प्रकाशित हुआ है। लेख मूलतः गुजराती भाषाका था और "प्रबुद्ध जीवन" श्वे० गुजराती पत्रमें प्रकाशित हुआ था। लेखके लेखक "प्रबुद्ध जीवन"के सम्पादक श्रीपरमानन्द कुंवरजी कापड़िया हैं तथा जैनजगतवाला लेख उसी लेखका श्रीभंवरलाल सिंघी द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है।

जैन जगतके संपादक भाई जमनालाल जैनने लेखकका जो परिचय सम्पादकीय नोटमें दिया है उसे ठीक मानते हुए भी हम इतना कहना चाहेंगे कि लेखकने दिगम्बर जैन साधुओंके नग्नत्वपर विचार करनेके प्रसंगसे साधुत्वमेंसे नग्नताकी प्रतिष्ठाको समाप्त करनेका जो प्रयत्न किया है उसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

इस विषयमें पहली बात तो यह है कि लेखकने अपने लेखमें मानवीय विकासक्रमका जो खाका खींचा है उसे बुद्धिका निष्कर्ष तो माना जा सकता है, परन्तु उसकी वास्तविकता निर्विवाद नहीं कही जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि सभ्यताके विषयमें जो कुछ लेखमें लिखा गया है उसमें लेखकने केवल भौतिकवादका ही सहारा लिया है, जबकि साधुत्वकी आधारशिला विशुद्ध अध्यात्मवाद है। अतः भौतिकवादकी सभ्यताके साथ अध्यात्मवादमें समर्थित नग्नताका यदि मेल न हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

तीसरी बात यह है कि बदलती हुई शारीरिक परिस्थितियाँ हमें नग्नतासे विमुख तो कर सकती हैं, परन्तु सिर्फ इसी आधार पर हमारा साधुत्वमेंसे नग्नताके स्थानको समाप्त करनेका प्रयत्न सही नहीं हो सकता है।

साधुत्वका उद्देश्य

प्रायः सभी संस्कृतियोंमें मानववर्गको दो भागोंमें बांटा गया है—एक तो जन-साधारणका वर्ग गृहस्थवर्ग और दूसरा साधुवर्ग। जहाँ जनसाधारणका उद्देश्य केवल सुखपूर्वक जीवनयापन करनेका होता है वहाँ साधुका उद्देश्य या तो जनसाधारणको जीवन के कर्त्तव्यमार्गका उपदेश देनेका होता है अथवा बहुतसे मनुष्य मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही साधुमार्गका अवलंबन लिया करते हैं। जैन संस्कृतिमें मुख्यतः मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही साधुमार्गके अवलंबनकी बात कही गयी है।

"जीवका शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाना" मुक्ति कहलाती है परन्तु यह दिगम्बर जैन संस्कृतिके अभिप्रायानुसार उसी मनुष्यको प्राप्त होती है जिस मनुष्यमें अपने वर्तमान जीवनकी सुरक्षाका आधारभूत शरीरकी स्थिरताके लिये भोजन, वस्त्र, औषधि आदि साधनोंकी अवाश्यकता शेष नहीं रह जाती है और ऐसे मनुष्यको साधुओंका चरमभेद स्नातक (निष्णात्) या जीवन्मुक्त नामसे पुकारा जाता है।

साधुत्वमें नग्नताको प्रश्रय क्यों ?

सामान्यरूपसे जैन संस्कृतिकी मान्यता यह है कि प्रत्येक शरीरमें उस शरीरसे अतिरिक्त जीवका अस्तित्व रहता है। परन्तु वह शरीरके साथ इतना घुला-मिला है कि शरीरके रूपमें ही उसका अस्तित्व समझमें आता है और जीवके अन्दर जो ज्ञान करनेकी शक्ति मानी गयी है वह भी शरीरका अंगभूत इन्द्रियों-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सहयोगके बिना पंगु बनी रहती है, इतना ही नहीं, जीव शरीरके इतना अधीन हो रहा है कि उसके जीवनकी स्थिरता शरीरकी स्वास्थ्यमय स्थिरता पर ही अवलंबित रहती है। जीवकी शरीरावलंबनताका यह भी एक विचित्र फिर भी तथ्यपूर्ण अनुभव है कि जब शरीरमें शिथिलता आदि किसी किस्मके विकार पैदा हो जाते हैं तो जीवको क्लेशका अनुभव होने लगता है और जब उन विकारोंको नष्ट करनेके लिये अनुकूल भोजन आदिका सहारा ले लिया जाता है तो उनका नाश हो जानेपर जीवको सुखानुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि भोजनादि पदार्थ शरीरपर ही अपना प्रभाव डालते हैं परन्तु शरीरके साथ अनन्यमयी पराधीनताके कारण सुखका अनुभोक्ता जीव होता है।

दिगम्बर जैन संस्कृतिकी यह मान्यता है कि जीव जिस शरीरके साथ अनन्यमय हो रहा है उसकी स्वास्थ्यमय स्थिरताके लिये जबतक भोजन, वस्त्र, औषधि आदिकी आवश्यकता बनी रहती है तबतक उस जीवका मुक्त होना असंभव है और यही एक कारण है कि दिगम्बर जैन संस्कृति द्वारा साधुत्वमें नग्नताको प्रश्रय दिया गया है। दूसरी बात यह है कि यदि हम इस बातको ठीक तरहसे समझ लें कि साधुत्वकी भूमिका मानव जीवनमें किस प्रकार तैयार होती है ? तो सम्भवतः साधुत्वमें नग्नताके प्रति हमारा आकर्षण बढ़ जायगा।

साधुत्वकी भूमिका

जीव केवल शरीरके ही अधीन है, सो बात नहीं है; प्रत्युत वह मनके भी अधीन हो रहा है और इस मनकी अधीनताने जीवको इस तरह दबाया है कि न तो वह अपने हितकी बात सोच सकता है और न शारीरिक स्वास्थ्यकी बात सोचनेकी ही उसमें क्षमता रह जाती है। वह तो केवल अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये अपने हित और शारीरिक स्वास्थ्यके प्रतिकूल ही आचरण किया करता है।

यदि हम अपनी स्थितिका थोड़ासा भी अध्ययन करनेका प्रयत्न करें तो मालूम होगा कि यद्यपि भोजन आदि पदार्थोंकी मनके लिये कुछ भी उपयोगिता नहीं है, वे केवल शरीरके लिये ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। फिर भी मनके वशीभूत होकर हम ऐसा भोजन करनेसे नहीं चूकते हैं जो हमारी शारीरिक प्रकृतिके बिल्कुल प्रतिकूल पड़ता है और जब इसके परिणामस्वरूप हमें कष्ट होने लगता है तो उसका समस्त दोष हम भगवान या भाग्यके ऊपर थोपनेकी चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार वस्त्र या दूसरी उपभोगकी वस्तुओंके विषयमें हम जितनी मानसिक अनुकूलताकी बात सोचते हैं उतनी शारीरिक स्वास्थ्यकी अनुकूलताकी बात नहीं सोचते। यहाँ तक कि एक तरफ तो शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ता चला जाता है और दूसरी तरफ मनकी प्रेरणासे हम उन्हीं साधनोंको जुटाते चले जाते हैं जो साधन हमारे शारीरिक स्वास्थ्यको बिगाड़नेवाले होते हैं। इतना ही नहीं, उन साधनोंके जुटानेमें विविध प्रकारकी परेशानीका अनुभव करते हुए भी हम परेशान नहीं होते बल्कि उन साधनोंके जुट जाने पर हम आनन्दका ही अनुभव करते हैं।

मनकी आधीनतामें हम केवल अपना या शरीरका ही अहित नहीं करते हैं, बल्कि इस मनकी अधीनताके कारण हमारा इतना पतन हो रहा है कि बिना प्रयोजन हम दूसरोंका भी अहित करनेसे नहीं चूकते हैं और इसमें भी आनन्दका रस लेते हैं।

दिगम्बर जैन संस्कृतिका मुक्ति प्राप्तिके विषयमें यह उपदेश है कि मनुष्यको इसके लिए सबसे पहले अपनी उक्त मानसिक पराधीनताको नष्ट करना चाहिए और तब इसके बाद उसे साधुत्व ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि आजकल प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें उक्त मानसिक पराधीनताके रहते हुए ही प्रायः साधुत्व ग्रहण करने की होड़ लगी हुई है, परन्तु नियम यह है कि जो साधुत्व मानसिक पराधीनतासे छुटकारा पानेके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद ग्रहण किया जाता है वही सार्थक हो सकता है और उसीसे ही मुक्ति प्राप्त होनेकी आशा की जा सकता है। तात्पर्य यह है कि उक्त मानसिक पराधीनताकी समाप्ति ही साधुत्व ग्रहण करनेके लिए मनुष्यकी भूमिका काम देती है। इसको (मानसिक पराधीनताकी समाप्तिको) जैन संस्कृतिमें सम्यग्दर्शन नामसे पुकारा गया है और क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और संयम ये छह धर्म उस सम्यग्दर्शनके अंग माने गए है।

मानव-जीवनमें सम्यग्दर्शनका उद्भव

प्रत्येक जीवके जीवनकी सुरक्षा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्रमें प्रतिपादित दूसरे जीवोंके सहयोग पर निर्भर है। परन्तु मानव जीवनमें तो इसकी वास्तविकता स्पष्ट रूपमे दिखाई देती है। इसीलिए ही मनुष्यको सामाजिक प्राणी स्वीकार किया गया है, जिसका अर्थ यह होता है कि सामान्यतया मनुष्य कौटुम्बिक सहवास आदि मानव समाजके विविध संगठनोंके दायरेमें रहकर ही अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकता है। इसलिए कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त, देश और विश्वके रूपमें मानव संगठनके छोटे-बड़े जितने रूप हो सकते हैं उन सबको संगठित रखनेका प्रयत्न प्रत्येक मनुष्यको सतत करते रहना चाहिए। इसके लिये प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"का सिद्धान्त अपनानेकी अनिवार्य आवश्यकता है, जिसका अर्थ यह है कि "जैसा व्यवहार दूसरोंसे हम अपने प्रति नहीं चाहते हैं वैसा व्यवहार हम दूसरोंके साथ भी न करें और जैसा व्यवहार दूसरोंसे हम अपने प्रति चाहते हैं वैसा व्यवहार हम दूसरोंके साथ भी करें।"

अभी तो प्रत्येक मनुष्यकी यह हालत है कि वह प्रायः दूसरोंको निरपेक्ष सहयोग देनेके लिए तो तैयार ही नहीं होता है। परन्तु अपनी प्रयोजन सिद्धिके लिए प्रत्येक मनुष्य न केवल दूसरोंसे सहयोग लेनेके लिए सदा तैयार रहता है। बल्कि दूसरोंको कष्ट पहुँचाने, उनके साथ विषमताका व्यवहार करने और उन्हें धोखेमें डालनेसे भी वह नहीं चूकता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक मनुष्यका यह स्वभाव बना हुआ है कि अपना कोई प्रयोजन न रहते हुए भी दूसरोंके प्रति उक्त प्रकारका अनुचित व्यवहार करनेमें उसे आनन्द आता है।

जैन संस्कृतिका उपदेश यह है कि 'अपना प्रयोजन रहते न रहते कभी किसीके साथ उक्त प्रकारका अनुचित व्यवहार मत करो। इतना ही नहीं, दूसरोंको यथा-अवसर निरपेक्ष सहायता पहुँचानेको सदा तैयार रहो' ऐसा करनेसे एक तो मानव संगठन स्थायी होगा दूसरे प्रत्येक मनुष्यको उस मानसिक पराधीनतासे छुटकारा मिल जायेगा, जिसके रहते हुए वह अपनेको सभ्य नागरिक तो दूर मनुष्य कहलाने तकका अधिकारी नहीं हो सकता है।

अपना प्रयोजन रहते न रहते दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना, इसे ही क्षमाधर्म, कभी भी दूसरोंके साथ विषमताका व्यवहार नहीं करना व इसे ही मार्दव धर्म; कभी भी दूसरोंको धोखेमें नहीं डालना, इसे ही आर्जव धर्म; और यथा-अवसर दूसरोंको निरपेक्ष सहायता पहुँचाना, इसे ही सत्यधर्म समझना चाहिए। इन चारों धर्मोंको जीवनमें उतार लेनेपर मनुष्यको मनुष्य, नागरिक या सभ्य कहना उपयुक्त हो सकता है।

यह भी देखते हैं कि बहुत मनुष्य उक्त प्रकारसे सभ्य होते हुए भी लोभके इतने वशीभूत रहा करते हैं कि उन्हें सम्पत्तिके संग्रहमें जितना आनन्द आता है उतना आनन्द उसके भोगनेमें नहीं आता। इसलिए अपनी शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें वे बड़ी कंजूसीसे काम लिया करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसी तरह दूसरे बहुतसे मनुष्योंकी प्रकृति इतनी लोलुप रहा करती है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि वे संपत्तिका उपभोग आवश्यकतासे अधिक करते हुए भी कभी तृप्त नहीं होते। इसलिए ऐसे मनुष्य भी अपना स्वास्थ्य बिगाड़ कर बैठ जाते हैं।

जैन संस्कृति बतलाती है कि भोजन आदि सामग्री शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षाके लिए बड़ी उपयोगी है इसलिए इसमें कंजूसीसे काम नहीं लेना चाहिए। लेकिन अच्छी बातोंका अतिक्रमण भी बहुत बुरा होता है, अतः भोजनादि सामग्रीके उपभोगमें लोलुपता भी नहीं दिखलाना चाहिये, क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्यरक्षाके लिए भोजनादि जितने जरूरी हैं उतना ही जरूरी उनका शारीरिक प्रकृतिके अनुकूल होना और निश्चित सीमातक भोगना भी है। इसलिए शरीरके लिए जहाँ तक इनकी आवश्यकता हो, वहाँ तक इनके उपभोगमें कंजूसी नहीं करना चाहिए और इनका उपभोग आवश्यकतासे अधिक भी नहीं करना चाहिए।

आवश्यकता रहते हुए भोजनादि सामग्रीके उपभोगमें कंजूसी नहीं करना, इसे ही शौचधर्म और अनर्गल तरीकेसे उसका उपभोग नहीं करना इसे ही संयमधर्म समझना चाहिए।

इस प्रकार मानव जीवनमें उक्त क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्यधर्मोंके साथ शौच और संयम-धर्मोंका भी समावेश हो जानेपर सम्पूर्ण मानसिक पराधीनतासे मनुष्यको छुटकारा मिल जाता है और तब उस मनुष्यको विवेकी या सम्यग्दृष्टि नामसे पुकारा जाने लगता है क्योंकि तब उस मनुष्यके जीवनमें न केवल "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"का सिद्धान्त समा जाता है, बल्कि वह मनुष्य इस तथ्यको भी हृदयंगम कर लेता है कि भोजनादिकका उपयोग क्यों करना चाहिये और किस ढंगसे करना चाहिये ?

सम्यग्दृष्टि मनुष्यकी साधुत्वकी ओर प्रगति

इस प्रकार मानसिक पराधीनताके समाप्त हो जानेपर मनुष्यके अन्तःकरणमें जो विवेक या सम्यग्दर्शन-का जागरण होता है उसकी वजहसे, वह पहले जो भोजनादिकका उपभोग मनकी प्रेरणासे किया करता था, अबसे आगे उनका उपभोग वह शरीरकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखते हुए ही करने लगता है।

इस तरह साधुत्वकी भूमिका तैयार हो जानेपर वह मनुष्य अपना भावी कर्त्तव्य-मार्ग इस प्रकार निश्चित करता है कि जिससे वह शारीरिक पराधीनतासे भी छुटकारा पा सके।

वह सोचता है कि 'मेरा जीवन तो शरीराश्रित है ही, लेकिन शरीरकी स्थिरताके लिये भी मुझे भोजन, वस्त्र, आवास और कौटुम्बिक सहवासका सहारा लेना पड़ता है, इस तरह मैं मानव संगठनके विशाल चक्करमें फँसा हुआ हूँ।'

इस डोरीको समाप्त करनेका एक ही युक्ति संगत उपाय जैन संस्कृतिमें प्रतिपादित किया गया है कि शरीरको अधिक-से-अधिक आत्म निर्भर बनाया जावे। इसके लिए (जैन संस्कृति) हमें दो प्रकारके निर्देश देती है—एक तो आत्मचिंतन द्वारा अपनी (आत्माकी) उस स्वावलम्बन शक्तिको जाग्रत करने की, जिसे अन्तराय-कर्मने दबोचकर हमारे जीवनको भोजनादिकके अधीन बना रखा है और दूसरा व्रतादिकके द्वारा शरीरको सबल बनाते हुए भोजनादिककी आवश्यकताओंको कम करनेका। इस प्रयत्नसे जैसे-जैसे शरीरके लिये भोजनादिककी आवश्यकतायें कम होती जायँगी (याने शरीर जितना-जितना आत्म-निर्भर होता जायगा) वैसे-वैसे ही हम अपने भोजनमें सुधार और वस्त्र, आवास तथा कौटुम्बिक सहवासमें कमी करते जावेंगे जिससे हमें मानव संगठनके चक्करसे निकलकर (याने समष्टि गत जीवनको समाप्त कर) वैयक्तिक जीवन बितानेकी क्षमता प्राप्त हो जायगी।

आत्माकी स्वावलंबन शक्तिको जाग्रत करने और शरीर सम्बन्धी भोजनादिककी आवश्यकताओंको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम करनेके प्रयत्नोंको जैन संस्कृतिमें क्रमशः अन्तरंग और बाह्य दो प्रकारका तपधर्म तथा भोजनादिकमें सुधार और कमी करनेको त्यागधर्म कहा गया है।

साधु मार्गमें प्रवेश

जीवनमें तप और त्याग इन दोनों धर्मोंकी प्रगति करते हुए विवेक या सम्यग्दर्शन सम्पन्न मनुष्य जब जन साधारणके वर्गसे बाहर रहकर जीवन बितानेमें पूर्ण सक्षमता प्राप्त कर लेता है और शारीरिक स्वास्थ्य-की रक्षाके लिये उसकी वस्त्र ग्रहणकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है तब वह नग्न दिगम्बर होकर दिगम्बर जैन संस्कृतिके अनुसार साधुमार्गमें प्रवेश करता है। नग्न दिगम्बर बनकर जीवन बितानेको दिगम्बर जैन संस्कृतिमें आकिंचन्य धर्म कहा गया है। आकिंचन्य शब्दका अर्थ है, पासमें कुछ नहीं रह जाना, अर्थात् अब तक मनुष्यने जो शरीर रक्षाके लिये वस्त्र, आवास, कुटुम्ब और जन साधारणसे सम्बन्ध जोड़ रखा था, वह सब उसने समाप्त कर दिया है केवल शरीरकी स्थिरताके लिये भोजनसे ही उसका सम्बन्ध रह गया है और भोजन ग्रहण करनेकी प्रक्रियामें भी उसने इस किस्मसे सुधार कर लिया है कि उसे पराश्रयताका लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता है। इतनेपर भी कदाचित् पराश्रयताका अनुभव होनेकी सम्भावना हो जाय तो पराश्रयता स्वीकार करनेकी अपेक्षा सन्यस्त होकर (समाधिमरण धारण करके) जीवन समाप्त करनेके लिये सदा तैयार रहता है। भोजनसे उसका सम्बन्ध भी तब तक रहता है जब तक कि शरीर रक्षाके लिये उसकी आवश्यकता बनी रहती है, इसलिये जब शरीर पूर्णरूपसे आत्म निर्भर हो जाता है तब उसका भोजनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और फिर शरीरकी यह आत्मनिर्भरता तब तक बनी रहती है जब तक कि जीवका उस शरीरसे सम्बन्धविच्छेद नहीं हो जाता है। शरीरका पूर्ण रूपसे आत्म निर्भर हो जानेसे मनुष्यका भोजनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जानेको आकिंचन्य धर्मकी पूर्णता कहते हैं और इस तरह आकिंचन्यधर्मकी पूर्णता हो जानेपर उसे साधु वर्गका चरमभेद स्नातक नामसे पुकारने लगते हैं। जैन संस्कृतिमें यही जीवन्मुक्त परमात्मा कहलाता है। यह जीवन्मुक्त परमात्मा आयुकी समाप्ति हो जानेपर शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जानेके कारण जो अपने आपमें स्थिर हो जाता है यही ब्रह्मचर्य धर्म है और यही मुक्ति है। इस ब्रह्मचर्य धर्म अथवा मुक्ति-की प्राप्तिमें ही मनुष्यका साधुमार्गके अवलम्बनका प्रयास सफल हो जाता है।

यहाँपर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते है कि दि० जैन संस्कृतिमें साधुओंको जन-साधारणके वर्गसे अलग परस्पर समूह बनाकर अथवा एकाकी वास करनेका निर्देश किया गया है। अतः जब उन्हें भोजन-ग्रहण करनेकी आवश्यकता महसूस हो, तभी और सिर्फ भोजनके लिये ही जनसाधारणके सम्पर्कमें आना चाहिये। वैसे जनसाधारण चाहें, तो उनके पास पहुँच कर उनसे उपदेश ग्रहण कर सकते हैं।

अन्तिम निष्कर्ष

इस लेखमें साधुत्वके विषयमें लिखा गया है वह यद्यपि दि० जैन संस्कृतिके दृष्टिकोणके आधारपर ही लिखा गया है परन्तु यह समझना भूल होगी कि साधुत्वके विषयमें इससे भिन्न दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है कारण कि साधुत्व ग्रहण करते समय मनुष्यके सामने निर्विवाद रूपसे आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिको उत्तरोत्तर बढ़ाना और शरीरमें अधिकसे-अधिक आत्मनिर्भरता लाना ही एक मात्र लक्ष्य रहना उचित है। अतः किसी भी सम्प्रदायका साधु क्यों न हो, उसे अपने जीवनमें दिगम्बर जैनसंस्कृति द्वारा समर्थित दृष्टिकोण ही अपनाना होगा अन्यथा साधुत्व ग्रहण करनेका उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

वर्तमानमें सभी सम्प्रदायोंके साधु-जिनमें दि० जैन सम्प्रदायके साधु भी सम्मिलित हैं, साधुत्वके स्वरूप, उद्देश्य और उत्पत्तिक्रमकी नासमझीके कारण बिल्कुल पथभ्रष्ट हो रहे हैं। इसलिए केवल सम्प्रदाय विशेषके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुओंकी आलोचना करना यद्यपि अनुचित ही माना जायगा फिर भी जिस सम्प्रदायके साधुओंकी आलोचना की जाती है उस सम्प्रदायके लोगोंको इससे रुष्ट भी नहीं होना चाहिये कारण कि आखिर वे साधु किसी-न-किसी रूपमें पथभ्रष्ट तो रहते ही हैं अतः रुष्ट होनेकी अपेक्षा दोषोंको निकालनेका ही उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। अच्छा होता, यदि भाई परमानन्द कुँवरजी कापड़िया साधुत्वमेंसे नग्नताकी प्रतिष्ठाको समाप्त करनेका प्रयत्न न करके केवल दि० जैन साधुओंके अवगुणोंकी इस तरह आलोचना करते, जिससे उनका मार्ग-दर्शन होता।

प्रश्न—जिस प्रकार पीछी, कमण्डलु और पुस्तक पासमें रखनेपर भी दि० जैन साधु अकिंचन (निर्ग्रन्थ) बना रहता है उसी प्रकार वस्त्र रखनेपर भी उसके अकिंचन बने रहनेमें आपत्ति क्यों होना चाहिये ?

उत्तर—दि० जैन साधु कमण्डलु तो जीवनका अनिवार्य कार्य मलशुद्धिके लिए रखता है, पीछी स्थान शोधनके काममें आती है और पुस्तक ज्ञानवृद्धिका कारण है अतः अकिंचन साधुको इनके पासमें रखनेकी छूट दि० जैन संस्कृतिमें दी गयी है परन्तु इन वस्तुओंको पासमें रखते हुए वह इनके सम्बन्धमें परिग्रही ही है, अपरिग्रही नहीं। इसी प्रकार जो साधु शरीर रक्षाके लिए अथवा सभ्य कहलानेके लिए वस्त्र धारण करता है तो उसे कम-से-कम उस वस्त्रका परिग्रही मानना अनिवार्य होगा।

तात्पर्य यह है कि जो साधु वस्त्र रखते हुए भी अपनेको साधुमार्गी मानते हैं या लोक उन्हें साधुमार्गी कहता है तो यह विषय दि० जैन संस्कृतिके दृष्टिकोणके अनुसार विवादका नहीं है क्योंकि दि० जैन संस्कृतिमें साधुत्वके विषयमें जो नग्नतापर जोर दिया गया है उसका अभिप्राय तो सिर्फ इतना ही है कि सवस्त्र साधुमें नग्न साधुकी अपेक्षा आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिके विकास और शरीरकी आत्मनिर्भरताकी उतनी कमी रहना स्वाभाविक है जिस कमीके कारण उसे वस्त्र ग्रहण करना पड़ रहा है। इस प्रकार वस्त्र त्यागकी असामर्थ्य रहते हुए वस्त्रका धारण करना निंदनीय नहीं माना जा सकता है प्रत्युत वस्त्र-त्यागकी असामर्थ्य रहते हुए भी नग्नताका धारण करना निन्दनीय ही माना जायेगा क्योंकि इस तरहके प्रयत्नसे साधुत्वमें उत्कर्ष होनेकी अपेक्षा अपकर्ष ही हो सकता है यही कारण है कि दिगम्बर जैनसंस्कृतिमें नग्नताको किसी एक हदतक साधुत्वका परिणाम ही माना गया है साधुत्वमें नग्नताको कारण नहीं माना गया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये कि साधुत्व ग्रहण करनेकी योग्यता रखनेवाले, पहले तीसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थानवर्ती मनुष्योंमें जब साधुत्वका उदय होता है तो उस हालतमें उनके पहले सातवाँ गुणस्थान ही होता है छठा गुणस्थान तो इसके बादमें ही हुआ करता है इसका आशय यही है कि जब मनुष्यकी मानसिक परिणतिमें साधुत्व समाविष्ट हो जाता है तभी बाह्यरूपमें भी साधुत्वको अपनाते हुए वह नग्नताकी ओर उन्मुख होता है।

तात्पर्य यह है कि सप्तम गुणस्थानका आधार साधुत्वकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति है और षष्ठ गुणस्थानका आधार साधुत्वकी बहिर्मुख प्रवृत्ति है। साधुत्वकी ओर अभिमुख होनेवाले मनुष्यकी साधुत्वकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति पहले हो जाया करती है, इसके बाद ही जब वह मनुष्य बहिःप्रवृत्तिकी ओर झुकता है तब वस्त्रोंका त्याग करता है अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साधुत्वका कार्य नग्नता है नग्नताका कार्य साधुत्व नहीं। यद्यपि नग्नता अंतरंग साधुत्वके बिना भी देखनेमें आती है परन्तु जहाँ अन्तरंग साधुत्वकी प्रेरणासे बाह्य वेशमें नग्नता को अपनाया जाता है वही सच्चा साधुत्व है।

प्रश्न—जब ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्यके सातवाँ गुणस्थान प्रारम्भमें सवस्त्र हालत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ही हो जाया करता है और इसके बाद छठे गुणस्थानमें आनेपर वह वस्त्रको अलग करता है। तो इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सातवें गुणस्थानकी तरह आठवां आदि गुणस्थानोंका सम्बन्ध भी मनुष्यकी अन्तरंग प्रवृत्तिसे होनेके कारण सवस्त्र मुक्तिके समर्थनमें कोई बाधा नहीं रह जाती है और इस तरह दि० जैनसंस्कृतिका स्त्रीमुक्ति निषेध भी असंगत हो जाता है।

उत्तर—यद्यपि सभी गुणस्थानोंका सम्बन्ध जीवकी अन्तरंग प्रवृत्तिसे ही है, परन्तु कुछ गुणस्थान ऐसे हैं जो अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ बाह्यवेशके आधारपर व्यवहारमें आने योग्य हैं। ऐसे गुणस्थान पहला, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ; छठा और तेरहवाँ ये सब हैं। शेष गुणस्थान याने दूसरा, सातवाँ, आठवाँ, नववाँ, दशवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ और चौदहवाँ ये सब केवल अन्तरंग प्रवृत्तिपर ही आधारित हैं। इसलिए जो मनुष्य सवस्त्र होते हुए भी केवल अपनी अन्तःप्रवृत्तिकी ओर जिस समय उन्मुख हो जाया करते हैं उन मनुष्योंके उस समयमें वस्त्रका विकल्प समाप्त हो जानेके कारण सातवेंसे बारहवें तकके गुणस्थान मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है। दि० जैन संस्कृतिमें भी चेलोपसृष्ट साधुओंका कथन तो आता ही है। परन्तु दि० जैनसंस्कृतिकी मान्यतानुसार मनुष्यके छठा गुणस्थान इसलिये सम्भव नहीं है कि वह गुणस्थान ऊपर कहे अनुसार साधुत्वकी अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ उसके बाह्य वेशपर आधारित है, अतः जबतक वस्त्रका त्याग बाह्यरूपमें नहीं हो जाता है तबतक दि० जैनसंस्कृतिके अनुसार वह साधु नहीं कहा जा सकता है। इसी आधारपर सवस्त्र होनेके कारण द्रव्यस्त्रीके छठे गुणस्थानकी सम्भावना तो समाप्त हो जाती है। परन्तु पुरुषकी तरह उसके भी सातवाँ आदि गुणस्थान हो सकते हैं या मुक्ति हो सकती है इसका निर्णय इस आधारपर ही किया जा सकता है कि उसके संहनन कौन-सा पाया जाता है। मुक्तिके विषयमें जैन संस्कृतिकी यही मान्यता है कि वह बज्रवृषभनाराचसंहनन वाले मनुष्यको ही प्राप्त होती है और यह संहनन द्रव्यस्त्रीके सम्भव नही है। अतः उसके मुक्तिका निषेध दि० जैनसंस्कृतिमें किया गया है। मनुष्यके तेरहवें गुणस्थानमें वस्त्रकी सत्ताको स्वीकार करना तो सर्वथा अयुक्त है क्योंकि एक तो तेरहवाँ गुणस्थान षष्ठगुणस्थानके समान अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ-साथ बाह्य प्रवृत्तिपर अवलम्बित है, दूसरे वहाँपर आत्माकी स्वालम्बन शक्ति और शरीरकी आत्मनिर्भरताकी पूर्णता हो जाती है, इसलिए वहाँ वस्त्रस्वीकृतिकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। दि० जैनसंस्कृतिमें द्रव्यस्त्रीको मुक्ति न माननेका यह भी एक कारण है।

जिन लोगोंका यह ख्याल है कि साधुके भोजन ग्रहण और वस्त्र ग्रहण दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है उनसे हमारा इतना कहना ही पर्याप्त है कि जीवनके लिए या शरीर रक्षाके लिए जितना अनिवार्य भोजन है उतना अनिवार्य वस्त्र नहीं है, जितना अनिवार्य वस्त्र है उतना अनिवार्य आवास नहीं है और जितना अनिवार्य आवास है उतना अनिवार्य कौटुम्बिक सहवास नहीं है।

अन्तमें स्थूल रूपसे साधुका लक्षण यही हो सकता है कि जो मनुष्य मनपर पूर्ण विजय पा लेनेके अनन्तर यथाशक्ति शारीरिक आवश्यकताओंको कम करते हुए भोजन आदिको पराधीनताको घटाता हुआ चला जाता है वही साधु कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org